विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

संपादक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

बड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन 456010

फोन : 0734–2521499, 0755–2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1
संस्कृत और सोमदेव का कालजयी साहित्य
अभिषेक पाण्डेय

पृष्ठ क्र. 3
परंपरा का महत्वपूर्ण जल स्मारक रानी की वाव
ऋतु मिश्र

पृष्ठ क्र. 5
उज्जयिनी नगर के प्राचीन सिक्के
चंद्रशेखर शर्मा

पृष्ठ क्र. 7
मालवा में शैव शाक्त और बौद्ध साहित्य
डॉ. अविनाश यादव

पृष्ठ क्र. 8
भारतीय नवजागरण और सार्वभौम सम्राट विक्रमादित्य
मथिलेश यादव

संस्कृत और सोमदेव का कालजयी साहित्य

अभिषेक पाण्डेय

प्राचीन भारतीय साहित्य परंपरा में अनेक ऐसे विद्वान हुए हैं जिनके लेखन ने न केवल तत्कालीन सांस्कृतिक परिदृश्य को समृद्ध किया, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए साहित्य, धर्म, नीति और लोकजीवन की एक ऐसी दृष्टि प्रस्तुत की जो कालजयी बन गई। इस परंपरा में सोमदेव का नाम अत्यंत प्रतिष्ठित और प्रभावशाली रूप में सामने आता है। उनके लेखन ने न केवल संस्कृत गद्य को एक विलक्षण आभा प्रदान की, बल्कि भारतीय कथा साहित्य को भी एक अद्वितीय स्वरूप प्रदान किया। 'कथासरित्सागर' उनकी सर्वप्रसिद्ध कृति है जो संस्कृत साहित्य की प्रमुख रचनाओं में से एक मानी जाती है। यह केवल एक कथा संग्रह नहीं, बल्कि भारतीय साहित्य, संस्कृति, लोकाचार, रीति–नीति और दर्शन का एक सजीव चित्रण है। सोमदेव प्राचीन भारतीय साहित्य परंपरा के एक महान कवि, लेखक और रचनाशील व्यक्तित्व रहे हैं जिनका योगदान संस्कृत साहित्य को नई ऊँचाइयाँ देने में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। उनका जीवनकाल लगभग ग्यारहवीं शताब्दी का माना जाता है और वे कश्मीर नरेश अनन्तदेव एवं उनके उत्तराधिकारी कलश के समकालीन माने जाते हैं। सोमदेव का साहित्यिक व्यक्तित्व उस युग का दर्पण है, जब कश्मीर न केवल राजनीतिक दृष्टि से समृद्ध था, बल्कि सांस्कृतिक, साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टियों से भी अपनी परिपक्वता को प्राप्त कर चुका था। सोमदेव स्वयं को शिवभक्त, कवि और आचार्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक समरसता के प्रतीक रूप में माने जाते हैं।

सोमदेव का साहित्य–सृजन न केवल कथा–कला के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि उन्होंने धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को भी अत्यंत कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। वे भारतीय कथा साहित्य की उस परंपरा के प्रतिनिधि हैं, जिसमें रस, नीति और कल्पना का अद्भुत समन्वय मिलता है। उनका योगदान भारतीय साहित्य के इतिहास में एक अमिट छाप के रूप में अंकित है। सोमदेव की सबसे प्रमुख उपलब्धि यही है कि उन्होंने भारतीय जनमानस में प्रचलित मौखिक कथाओं, लोक आख्यानों और पौराणिक सामग्री को एक ऐसा साहित्यिक रूप दिया जो काल और देश की सीमाओं को लांघता हुआ सार्वकालिक बन गया। कथासरित्सागर के रचयिता के रूप में वे अपने समय की उस बौद्धिक चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं जो परंपरा और प्रयोग के सुंदर समन्वय से उपजी थी। यह ग्रंथ राजा हर्षवर्धन के समय के प्रसिद्ध ब्राह्मण रचनाकार गुणाढ्य द्वारा रचित 'बृहत्कथा' पर आधारित है, जो पैशाची भाषा में लिखी गई थी और अब उपलब्ध नहीं है। सोमदेव ने गुणाढ्य की बृहत्कथा को संस्कृत में गद्य–पद्य मिश्रित शैली में अनूदित या कहें पुनःसृजित किया। उन्होंने इसे केवल अनुवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं किया, बल्कि अपने युग की संवेदनाओं, दृष्टिकोणों और साहित्यिक सौंदर्यशास्त्र के अनुरूप एक नया रूप प्रदान किया।

कथासरित्सागर का मूल स्वरूप कथा–कथाओं का विशाल समुद्र है, जिसमें राजा विक्रमादित्य और बेताल से लेकर विविध राजाओं, साधुओं, गणिकाओं, व्यापारियों, यक्षों, नागों और दैत्यों की असंख्य कथाएँ संकलित हैं। यह ग्रंथ कुल 18 पुस्तकों (लम्बकों) और 124 तरंगों में विभक्त है, जिसमें लगभग 22,000 श्लोकों के माध्यम से असंख्य कथाओं का विस्तार हुआ है। यह ग्रंथ महाभारत और रामायण की परंपरा में ही आता है, जहाँ कथा के माध्यम से धर्म, नीति, लौकिक ज्ञान, व्यवहार, स्त्री–पुरुष संबंध, राजनीति, युद्धनीति और अध्यात्म की गूढ़ बातें अत्यंत सरल और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। सोमदेव की इस कृति में जिस प्रकार से कथाओं को परस्पर जोड़ा गया है, वह न केवल उनकी रचनात्मकता की पराकाष्ठा है, बल्कि भारतीय कथा परंपरा में अंतर्गाथाओं की अद्भुत व्यवस्था का

उत्कृष्ट उदाहरण भी है। सोमदेव की यह शैली आज भी प्रेरणास्पद है, जिसमें वे अनेक कथाओं को एक केंद्रीय कथा में इस प्रकार पिरोते हैं कि पाठक कथाओं के प्रवाह में बहते चले जाते हैं। कथाओं में कल्पना और यथार्थ का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। एक ओर यह कृति हमें तत्कालीन सामाजिक ढांचे, रीति–नीति, व्यापार, स्त्री स्थिति, जातीय संबंधों और धार्मिक दृष्टिकोण का ज्ञान कराती है, वहीं दूसरी ओर यह साहित्यिक सौंदर्य और कथा–कौशल का अद्वितीय उदाहरण भी बनती है। सोमदेव की विशेषता यह रही कि उन्होंने पाठकों के मनोरंजन और शिक्षा दोनों का ध्यान रखा। यही कारण है कि कथासरित्सागर न केवल राजा–महाराजाओं और विद्वानों का प्रिय ग्रंथ रहा, बल्कि आमजन में भी इसकी कथाओं का व्यापक प्रभाव पड़ा। इस ग्रंथ का वैशिष्ट्य यह भी है कि इसमें केवल ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण ही नहीं, बल्कि विभिन्न धार्मिक और सामाजिक वर्गों की उपस्थिति भी है। बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव और लोक–विश्वासों को समान रूप से स्थान दिया गया है। यह समन्वयात्मक दृष्टिकोण सोमदेव की बौद्धिक उदारता और सांस्कृतिक समावेशिता को दर्शाता है। कथाओं में स्त्रियों की उपस्थिति भी विविध रूपों में हैकृकहीं वे प्रेम और समर्पण की प्रतिमूर्ति हैं, तो कहीं छल और बुद्धि की प्रतीक। यह स्त्री पात्रों का यथार्थ चित्रण उस समय की सामाजिक स्थिति को समझने में भी सहायक है। सोमदेव ने स्त्रियों को केवल पारंपरिक मर्यादा में बाँधकर नहीं देखा, बल्कि उनके स्वतंत्र निर्णयों, बुद्धिमत्ता और सामाजिक हस्तक्षेपों को भी स्वीकार किया है।

सोमदेव का भाषा प्रयोग भी अत्यंत आकर्षक है। उन्होंने संस्कृत के परिनिष्ठित रूप का प्रयोग करते हुए भी सहज और ग्राह्य गद्य–शैली अपनाई है। यह शैली न तो अत्यधिक क्लिष्ट है और न ही अत्यधिक सरलीकृत। यही कारण है कि यह ग्रंथ विद्वानों के साथ–साथ सामान्य पाठकों के लिए भी समादृत बना रहा। इसमें प्रयुक्त संवाद शैली, वर्णनात्मक कौशल, रूपक और उपमा अलंकारों का सधा हुआ प्रयोग, कथा–विकास की गति और चरित्र–चित्रण की क्षमता सोमदेव को संस्कृत गद्य के श्रेष्ठ रचनाकारों में स्थापित करती है।

सोमदेव के इस ग्रंथ का प्रभाव न केवल भारतीय साहित्य पर पड़ा, बल्कि इसने फारसी, अरबी, तुर्की और यहाँ तक कि यूरोपीय भाषाओं के कथा साहित्य को भी प्रभावित किया। कथासरित्सागर की अनेक कथाएँ बाद में फारसी में 'तूतिनामा', 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बेताल पच्चीसी' जैसी कृतियों के रूप में सामने आईं। यहाँ तक कि यूरोप में पंचतंत्र और कथासरित्सागर की कथाएँ 'अरेबियन नाइट्स' के कथा संग्रहों में समाहित हुईं। इस प्रकार सोमदेव की रचनात्मकता और उनके साहित्यिक योगदान की अंतरराष्ट्रीय स्वीकार्यता स्पष्ट होती है।

एक अन्य महत्वपूर्ण पहलु यह भी है कि कथासरित्सागर जैसे ग्रंथों ने भारतीय समाज की कथावाचन परंपरा को भी मजबूत किया। इन कथाओं का पाठ न केवल मनोरंजन का साधन था, बल्कि नैतिक शिक्षा, धार्मिक प्रसंगों की व्याख्या और सामाजिक संवाद का भी माध्यम था। मंदिरों, राजप्रासादों, ग्रामसभाओं और उत्सवों में इन कथाओं का वाचन होता था और इससे एक साझा सांस्कृतिक चेतना का निर्माण होता था। सोमदेव की कृति ने इस सांस्कृतिक प्रक्रिया को न केवल प्रोत्साहित किया, बल्कि उसे एक स्थायी और समृद्ध स्वरूप भी प्रदान किया। सोमदेव के साहित्यिक योगदान को केवल एक रचनाकार के रूप में सीमित करना उचित नहीं होगा। वे एक सांस्कृतिक दृष्टा भी थे, जिन्होंने अपने समय की विविधता को समेटते हुए उसे कथा के माध्यम से कालातीत बना दिया। उन्होंने जो सामग्री प्रस्तुत की, वह केवल मनोरंजन या नीति–शिक्षा तक सीमित नहीं, बल्कि भारतीय मानस की उस रचनात्मक परंपरा का प्रतीक बन गई जिसमें शब्दों के माध्यम से सभ्यता और संस्कृति को संरक्षित किया गया। कथासरित्सागर में ऐसा कोई पक्ष नहीं जो जीवन के विविध रंगों को न समेटता हो। यहाँ राजा और रंक, देवता और दैत्य, ऋषि और राक्षस, साधु और वेश्या, विद्वान और मूर्ख सभी मिलते हैं और अपने–अपने स्थान पर जीवन के सत्य को प्रकट करते हैं।

यह ग्रंथ उस गद्य परंपरा का भी प्रतिनिधित्व करता है जिसे संस्कृत साहित्य में बहुत बार कविताओं की छाया में कम आँका गया। परंतु सोमदेव ने यह प्रमाणित किया कि संस्कृत गद्य भी उतना ही सशक्त और रसपूर्ण हो सकता है जितना कि काव्य। उनकी गद्यशैली में जो प्रवाह, गूढ़ार्थ और सहजता है, वह उनकी भाषिक दक्षता का परिचायक है। कथाओं का क्रमशः विस्तार, पात्रों की भूमिका और उनकी मनोवृत्तियों का विश्लेषण, परिस्थिति के अनुरूप भाषा का चयन और भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति इन सबका संयोजन इस ग्रंथ को उत्कृष्ट साहित्यिक कृति के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

सोमदेव ने न केवल गुणाढ्य की बृहत्कथा को पुनर्जीवित किया, बल्कि उसे भारतीय साहित्य की धरोहर बना दिया। उनके इस कार्य ने यह सिद्ध कर दिया कि किसी भी रचना को केवल भाषा के कारण विलुप्त नहीं होने दिया जा सकता, यदि उसमें जीवन्तता, सजीवता और सार्वभौमिकता हो। उन्होंने पैशाची जैसी विलुप्त हो रही भाषा में रचित ग्रंथ को संस्कृत में प्रस्तुत करके यह संकेत दिया कि भाषा माध्यम हो सकती है, पर साहित्य का सार भाव, कल्पना और मानव चेतना की गहराई में निहित होता है। कथासरित्सागर की अनेक कथाएँ आज भी प्रासंगिक हैं और उन्हें विभिन्न आधुनिक भाषाओं में अनूदित किया जाता रहा है, जो सोमदेव की स्थायी महत्ता को सिद्ध करती है। इस प्रकार सोमदेव का साहित्यिक योगदान केवल एक ग्रंथ की रचना तक सीमित नहीं है, बल्कि वे भारतीय साहित्य में एक परंपरा के वाहक और सर्जक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने न केवल अतीत की कथाओं को जीवित किया, बल्कि उन्हें वर्तमान और भविष्य से जोड़ने का कार्य भी किया। उनका साहित्य एक सेतु है जो भारतीय संस्कृति की गहराई, विविधता और समग्रता को युगों तक संप्रेषित करता रहा है।

परंपरा का महत्वपूर्ण जल स्मारक रानी की वाव

ऋतु मिश्र

भारत के हृदय में अनेक ऐसी स्थापत्य कृतियाँ हैं जो न केवल स्थापत्य कौशल की पराकाष्ठा को प्रकट करती हैं, बल्कि उनमें तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक चेतना, लोक विश्वास, नारी सम्मान और धार्मिक श्रद्धा का विलक्षण संगम भी दृष्टिगोचर होता है। गुजरात के पाटन नगर में स्थित 'रानी की वाव' ऐसी ही एक अनुपम धरोहर है, जो जल स्थापत्य की दृष्टि से तो विश्वभर में अद्वितीय है ही, साथ ही एक स्त्री की स्मृति को समर्पित इस वाव ने भारतीय नारी की संवेदना, शक्ति और श्रद्धा का प्रतीक बनकर युगों से जनमानस में अपना स्थायी स्थान बनाए रखा है। यह वाव किसी साधारण कुएँ या जलाशय से कहीं अधिक एक जीवित विरासत है, एक ऐसा स्थापत्य, जिसमें इतिहास बोलता है, धर्म बहता है, कला नाचती है, और लोक स्मृति में वह एक तीर्थ बन जाता है।

'रानी की वाव' का निर्माण ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। यह सोलंकी वंश की रानी उदयमती द्वारा अपने पति राजा भीमदेव प्रथम की स्मृति में निर्मित की गई थी। यह उल्लेख मात्र ही इस वाव की सांस्कृतिक और भावनात्मक गहराई को स्पष्ट कर देता है। भारत में जहाँ नारी का स्थान परिवार की मर्यादा और श्रद्धा में था, वहीं यदि वह राज्य की उत्तराधिकारी या संरक्षिका बनती थी तो वह राज्य की संस्कृति की संरक्षिका भी बन जाती थी। रानी उदयमती ने यह वाव केवल जल संग्रहण हेतु नहीं बनवाया, बल्कि अपने स्वर्गवासी पति की स्मृति को अमर करने के लिए एक ऐसी रचना की जो जल और श्रद्धा के संगम से जनमानस की आत्मा में प्रवाहित हो सके। इस प्रकार यह वाव एक स्मारक भी है, एक जलाधारित स्थापत्य भी, और एक स्त्री की श्रद्धा का प्रतीक भी।

पाटन का नगर स्वयं सोलंकी वंश के शासनकाल में अत्यंत समृद्ध और वैभवशाली रहा है। यह नगर न केवल व्यापार और कला का केंद्र था, बल्कि यह गुजरात की सांस्कृतिक राजधानी जैसा महत्व रखता था। इस वाव का निर्माण ऐसे ही समृद्ध कालखंड में हुआ, जब वास्तुकला, मूर्तिकला और जल–प्रबंधन की भारतीय परंपराएँ अपनी चरम अवस्था में थीं। रानी की वाव इस बात का सजीव प्रमाण है कि प्राचीन भारत में जलस्रोत केवल प्यास बुझाने का साधन नहीं थे, बल्कि वे समाज के सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन का केंद्रीय तत्व थे। जल ही जीवन था, और जल की पूजा, उसकी रक्षा, और उसका संरक्षण, भारतीय जीवन–दर्शन का एक अंग था। इस वाव की संरचना इतनी भव्य, जटिल और कलात्मक है कि इसे देखने वाले विस्मित रह जाते हैं। लगभग सात मंजिल गहराई तक जाती यह वाव भूमिगत जल संरचना की अद्वितीय मिसाल है। यह उत्तर से दक्षिण की दिशा में बनी है और इसकी लंबाई लगभग 64 मीटर और चौड़ाई 20 मीटर है। वाव के दोनों ओर दीर्घ आयताकार गलियारों के साथ स्तंभों की पंक्तियाँ हैं, जो इसकी स्थापत्य योजना को भव्यता प्रदान करती हैं। नीचे उतरते हुए प्रत्येक स्तर पर छज्जे, अलंकृत स्तंभ, तोरणद्वार और विश्रामस्थल बने हैं जो इसे एक जलाशय से अधिक एक भूमिगत मंदिर का स्वरूप प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि जल तक पहुँचने के लिए जो मार्ग बनाए गए हैं, वे भी अत्यंत कलात्मक और धार्मिक प्रतीकों से युक्त हैं।

रानी की वाव की दीवारों, स्तंभों और गर्भगृह सदृश संरचनाओं पर उकेरी गई मूर्तिकला विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इस वाव में लगभग 800 से अधिक मूर्तियाँ हैं, जिनमें से अधिकांश विष्णु के दशावतारों, अप्सराओं, यक्षों, गंधर्वों, साध्वियों, ऋषियों और शिव–पार्वती जैसे देवताओं की हैं। इनमें भगवान विष्णु की अनंत रूपों में मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं वराह, वामन, नरसिंह, राम और कृष्ण के रूप में उनके अवतारों को बड़े ही जीवंत रूप में दर्शाया गया है। इन मूर्तियों के भाव, मुद्रा, और वस्त्राभूषण इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उस कालखंड में मूर्तिकला और शिल्पकला कितनी परिपक्व

अवस्था में थी। इस वाव में विशेष रूप से प्रयुक्त 'मरु–गुर्जर शैली' की वास्तुकला गुजरात और राजस्थान की परंपराओं का संगम प्रतीत होती है। स्थापत्य की दृष्टि से यह वाव बहुस्तरीय मंडपों, तोरणद्वारों, गवाक्षों और जालियों से युक्त है, जो इस बात को दर्शाते हैं कि जल को केवल भौतिक तत्व नहीं, बल्कि आध्यात्मिक तत्व के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया था। जल तक जाने का मार्ग स्वयं एक तीर्थयात्रा का मार्ग बन जाता है। ऊपर से नीचे की ओर जाता हुआ मार्ग एक प्रकार की आत्मिक यात्रा को भी इंगित करता है, जिसमें व्यक्ति संसार से अंतर्मुखता की ओर बढ़ता है। यह प्रतीकात्मकता भारतीय स्थापत्य की उस गूढ़ परंपरा का हिस्सा है, जिसमें प्रत्येक निर्माण किसी न किसी दार्शनिक अर्थ से जुड़ा होता था।

लोक जीवन में रानी की वाव का महत्व अनेक स्तरों पर देखा जा सकता है। यह वाव न केवल पाटन नगर का जल स्रोत था, बल्कि वर्षा के पश्चात् जब जल से यह वाव भर जाती थी, तब आस–पास के गाँवों के लोग भी यहाँ जल ग्रहण करने, पूजा–अर्चना करने, और सांस्कृतिक गतिविधियों में सम्मिलित होने के लिए आते थे। अनेक उत्सवों और धार्मिक अनुष्ठानों का यह केंद्र बन चुकी थी। महिलाएँ विशेष रूप से इस वाव में स्नान और पूजा के लिए आती थीं, जिससे यह स्थान एक प्रकार के स्त्री–आधारित सामाजिक सहचर्य का केंद्र बनता गया। इसके अतिरिक्त, जनश्रुति में यह भी प्रचलित है कि यह वाव रोग–निवारण, संतति–प्राप्ति और मनोकामना पूर्ति का स्थान भी माना जाता था, जहाँ श्रद्धालु आकर जल में आस्था की डुबकी लगाते थे।

रानी की वाव समय के थपेड़ों से भी अछूती नहीं रही। मध्यकाल में जब मुस्लिम आक्रमणकारी गुजरात पहुँचे, तब इस वाव को भी क्षति पहुँची। कई मूर्तियाँ खंडित की गईं, अनेक संरचनाएँ ध्वस्त हुईं और धीरे–धीरे यह वाव उपेक्षा का शिकार होती गई। बरसों तक यह वाव गाद और मिट्टी में दबी रही। परंतु इसकी भव्यता को पूर्णतः नष्ट नहीं किया जा सका, क्योंकि इसकी अधिकांश संरचना भूमिगत थी, जिससे वह प्राकृतिक रूप से संरक्षित हो गई। 20वीं सदी में भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा इस वाव को पुनः खोजा गया, उसकी खुदाई की गई और संरक्षण कार्य प्रारंभ हुआ। इसके पश्चात् यह वाव न केवल स्थानीय जनता में फिर से लोकप्रिय हुई, बल्कि भारत के सांस्कृतिक धरोहरों में इसका स्थान और भी प्रतिष्ठित हो गया।

यूनेस्को द्वारा इसे विश्व धरोहर स्थल के रूप में मान्यता दिए जाने के बाद रानी की वाव को विश्व स्तर पर एक अमूल्य धरोहर के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यह न केवल भारत के जल स्थापत्य की अद्वितीयता को दर्शाता है, बल्कि यह भी सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय समाज जल प्रबंधन और जल संरचना में कितनी दूरदर्शिता और कलात्मकता रखता था। यह वाव आज भी हजारों पर्यटकों, शोधकर्ताओं, कलाकारों और तीर्थयात्रियों को आकर्षित करती है। इसका शांत वातावरण, कला की बारीकियाँ, और शिल्प की गहराई आज के यांत्रिक समय में भी आत्मा को स्पर्श करती हैं। भारतीय लोक मानस में यह वाव केवल एक ऐतिहासिक धरोहर नहीं, बल्कि एक जीवित अनुभव बन गई है। अनेक लोकगीतों, कथाओं और कहावतों में इसका उल्लेख होता है। गुजरात के कई जनपदीय गीतों में रानी की वाव को प्रेम, श्रद्धा, और सौंदर्य के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह वाव गाँव की स्त्रियों के लिए कथा, भजन, और उत्सवों का स्थान रही है, जहाँ सामाजिक संबंधों को पुनः जीवित किया जाता रहा है। यहाँ नृत्य, संगीत, पूजा और अन्यान्य पारंपरिक गतिविधियाँ आज भी लोक स्मृति में जीवंत हैं। इस वाव ने स्वयं को केवल एक स्थापत्य नहीं, बल्कि एक संस्कृति के केंद्र के रूप में सिद्ध किया है।

रानी की वाव की वस्तुस्थिति को देखें तो यह पूरी तरह से पत्थरों द्वारा निर्मित है। विशेषकर सैंडस्टोन (बालुआ पत्थर) का उपयोग इसमें प्रमुखता से हुआ है। पत्थरों को जोड़ने की तकनीक इतनी उत्कृष्ट है कि उनमें जोड़ का निशान भी सहज दृष्टिगोचर नहीं होता। इसकी संरचना की गहराई और विस्तार, साथ ही भूमिगत जल स्रोत से उसका संयोजन यह दर्शाता है कि भारतीय शिल्पियों और अभियंताओं को जल विज्ञान, भूगर्भ और संरचनात्मक विज्ञान का गहन ज्ञान था। इस वाव की संरचना मात्र कलात्मक न होकर पूर्णतः वैज्ञानिक भी है। वर्षा जल के संचयन, भूमिगत जल स्तर के पुनर्भरण और दीर्घकालीन संरक्षण को ध्यान में रखते हुए इसका निर्माण किया गया था। इसके स्तंभों की डिजाइन, छतों के वक्र और जल की गति को नियंत्रित करने की प्रणाली से यह स्पष्ट होता है कि यह वाव केवल भावना का नहीं, बुद्धि और तकनीकी ज्ञान का भी परिणाम है।

रानी की वाव एक ऐसी कृति है जहाँ भारत की परंपरा, तकनीकी ज्ञान, कला, आस्था और लोक जीवन एक साथ प्रवाहित होते हैं। यह एक ऐसी वाणी है जो जल की प्रत्येक बूँद में इतिहास की गाथा सुनाती है, और प्रत्येक पत्थर में एक कथा छिपी है। एक रानी की श्रद्धा की, एक युग की संस्कृति की, और एक सभ्यता की जल साधना की। आज जब जल संकट और जल प्रबंधन की समस्या विश्व स्तर पर चर्चा का विषय है, तब रानी की वाव हमें यह स्मरण कराती है कि कैसे हमारे पूर्वजों ने जल को केवल संसाधन नहीं, बल्कि देवता माना, और उसके संरक्षण के लिए कला, विज्ञान और धर्म को एक साथ समर्पित किया। इस वाव की दीर्घायु यात्रा भारतीय संस्कृति की उस अविरल धारा का भी प्रतीक है, जो बाह्य आक्रमणों, राजनीतिक परिवर्तनों और प्राकृतिक आपदाओं के बावजूद अपने मूल्यों, विश्वासों और रचनात्मक ऊर्जा को बनाए रखती है। रानी की वाव नारी शक्ति, वास्तुकला, जल संरक्षण, और धार्मिक आस्था का एक विलक्षण संगम है। यह केवल गुजरात की नहीं, बल्कि संपूर्ण भारत की आत्मा का हिस्सा है। एक ऐसी आत्मा जो जल की निस्सीम गहराई में भी अपनी संस्कृति की अमिट छाया देख सकती है।

उज्जयिनी नगर के प्राचीन सिक्के

चंद्रशेखर शर्मा

उज्जयिनी नगर, जिसे आज उज्जैन के नाम से जाना जाता है, प्राचीन भारत की उन पुण्यभूमियों में से एक रहा है जहाँ इतिहास, संस्कृति, ज्योतिष, धर्म और व्यापार का अद्भुत संगम दिखाई देता है। यह नगर न केवल पवित्र क्षिप्रा नदी के तट पर स्थित एक धार्मिक तीर्थस्थल है, बल्कि यह प्राचीन भारत की राजनैतिक, आर्थिक और मुद्रात्मक संरचना का भी प्रमुख केंद्र रहा है। उज्जयिनी की मुद्रा प्रणाली प्राचीन भारतीय सिक्कों के इतिहास में एक अनोखी स्थिति रखती है। यहाँ प्राप्त सिक्के न केवल आर्थिक लेन–देन के साधन थे, बल्कि वे तत्कालीन शासन व्यवस्था, धार्मिक धारणाओं, सांस्कृतिक प्रतीकों और कलात्मक परंपराओं के अमिट चिन्ह भी हैं। उज्जैन के प्राचीन सिक्कों का अध्ययन भारत के आर्थिक इतिहास के साथ–साथ उसके सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास को भी परिभाषित करने में सहायक है।

प्राचीन भारत की आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचना में मुद्राओं की विशेष भूमिका रही है। इनमें से उज्जैन की मुद्राएँ एक विशिष्ट स्थान रखती हैं। उज्जैन, जिसे प्राचीन काल में अवंति महाजनपद की राजधानी माना जाता था, व्यापार, खगोलशास्त्र, ज्योतिष और संस्कृति का प्रमुख केंद्र था। इसकी भौगोलिक स्थिति मध्य भारत में होने के कारण यह उत्तर और दक्षिण भारत के व्यापारिक मार्गों का संगम था, जिसके कारण यहाँ की मुद्राएँ न केवल स्थानीय स्तर पर बल्कि दूर–दराज के क्षेत्रों में भी प्रचलित थीं। उज्जैन की मुद्राओं की विशेषता उनके प्रतीकात्मक स्वरूप में निहित है। इनमें सबसे प्रमुख था "उज्जैन चिन्ह"। चार बिंदुओं को जोड़ता हुआ एक क्रॉस जैसा चिन्ह, जो इन सिक्कों की पहचान बन गया। यह चिन्ह न केवल एक मुद्रात्मक प्रतीक था, बल्कि यह धार्मिक, खगोलीय और सांस्कृतिक अर्थों से भी जुड़ा हुआ माना जाता है। कुछ विद्वान इसे ब्रह्मा के चार मुखों, चार दिशाओं या चार वेदों का प्रतीक मानते हैं। इसका उपयोग उज्जैन की पहचान के रूप में किया जाता था, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ये मुद्राएँ किसी संगठित सत्ता और प्रशासनिक व्यवस्था के अंतर्गत जारी की जाती थीं। मौर्य काल के दौरान उज्जैन एक महत्वपूर्ण प्रांतीय राजधानी थी। अशोक, सम्राट बनने से पूर्व उज्जैन का शासक था। शुंग, सातवाहन और गुप्त काल में उज्जैन की मुद्राएँ और अधिक परिष्कृत हुईं। इस काल की मुद्राओं में धातु की गुणवत्ता, आकार और मुद्रा के पीछे की कलात्मकता विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। उज्जैन, उस काल का एक ऐसा केंद्र था जहाँ व्यापारिक गिल्ड (श्रेणियाँ) सक्रिय थीं और उन्होंने भी अपनी मुद्राएँ जारी कीं, जिससे स्थानीय व्यापार को बढ़ावा मिला। इसके अतिरिक्त, उज्जैन का खगोलीय महत्व भी इसकी मुद्राओं से जुड़ा हुआ है। उज्जैन को भारतीय मानक समय की आधाररेखा के रूप में चुना गया है, क्योंकि यह भौगोलिक दृष्टि से भारत का केंद्र माना गया। प्राचीन काल में यह खगोलशास्त्रियों और पंचांग निर्माताओं का प्रमुख केंद्र था। कई मुद्राओं पर खगोलीय प्रतीकों की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि उज्जैन केवल आर्थिक नहीं, बल्कि बौद्धिक केंद्र भी था। मौर्यकाल से पूर्व ही उज्जैन एक समृद्ध

और सुव्यवस्थित नगर था। इस क्षेत्र से प्राप्त पंचमार्क सिक्के इस बात की पुष्टि करते हैं कि यहाँ मुद्रा प्रणाली काफी पहले विकसित हो चुकी थी। पंचमार्क सिक्के मुख्यतः चाँदी के होते थे और इनमें पाँच विभिन्न चिह्न अंकित होते थे, जिनमें सूर्य, वृक्ष, पर्वत, पशु तथा ज्यामितीय आकृतियाँ सम्मिलित थीं। ये चिह्न तत्कालीन धार्मिक विश्वासों, प्राकृतिक प्रतीकों तथा शासकीय मुहरों के प्रतिनिधि रूप में देखे जाते हैं। यह भी देखा गया है कि इन पंचमार्क सिक्कों में से कई चिह्न उज्जयिनी के विशिष्ट प्रतीकों से मेल खाते हैं, जैसे ऊँट, चक्र या स्वस्तिक जैसे संकेत, जो संभवतः किसी स्थानीय गण या शासक की पहचान कराते हैं। मौर्यकाल में उज्जयिनी एक महत्वपूर्ण प्रांत था और अशोक यहाँ का सुविख्यात कुमार अमात्य रहा था। बाद में मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात उज्जैनी पर शुंगों और फिर सातवाहनों का आधिपत्य रहा। इस काल में जो सिक्के मिलते हैं, उनमें कुछ पर ब्राह्मी लिपि में अंकित नाम, विभिन्न देवताओं की आकृतियाँ, तथा धार्मिक प्रतीकों की छवियाँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सिक्के न केवल आर्थिक लेन–देन के माध्यम थे, बल्कि राज्य और धर्म के प्रचार के लिए भी प्रयुक्त होते थे। शकों के आगमन के साथ उज्जयिनी की मुद्रा प्रणाली में एक नया मोड़ आया। शकों ने पश्चिमी भारत में शक्तिशाली शासन स्थापित किया और उज्जैनी उनका प्रमुख केन्द्र बना। इस काल में प्राप्त सिक्के मुख्यतः ताँबे और चाँदी के होते थे जिनमें यूनानी प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

उदाहरणस्वरूप, कई सिक्कों पर राजा का चित्र प्रोफाइल में अंकित है और ग्रीक शैली में नाम उत्कीर्ण है। शकों के सिक्कों पर प्रमुखता से मिलने वाले प्रतीकों में त्रिशूल, वज्र, चन्द्र, सूर्य, सिंह और बैल शामिल हैं। यह प्रतीक तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं, विशेषतः शिव और शक्ति के पूजन से संबद्ध प्रतीत होते हैं। उज्जैनी के शकों में 'चष्टन' और 'रुद्रदामन' जैसे शासकों के नाम उल्लेखनीय हैं जिनके सिक्के स्थानीय कला व शैली के साथ विदेशी प्रभावों का सुंदर समन्वय प्रस्तुत करते हैं। कुषाण साम्राज्य की स्थापना के समय उज्जयिनी उनके प्रशासनिक क्षेत्र में नहीं था, परन्तु कुषाणों की मुद्राएँ व्यापार के माध्यम से यहाँ तक पहुँचती थीं। इन सिक्कों की विशेषता यह थी कि ये स्वर्ण, चाँदी, ताँबा तथा मिश्र धातुओं से निर्मित होते थे। इनमें यवन शैली का प्रभाव दिखाई देता है जिसमें राजाओं की छवियाँ, यूनानी व रोमन देवताओं की आकृतियाँ, ब्राह्मी और ग्रीक लिपियों का संयुक्त प्रयोग होता था। उज्जयिनी में कुषाण सिक्कों की उपलब्धता इस बात का संकेत है कि यह नगर अंतर्राज्यीय व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था। गुप्तकाल को भारत का 'स्वर्णयुग' माना जाता है और इस काल के सिक्के इसकी पुष्टि करते हैं। उज्जयिनी में गुप्त कालीन सिक्कों की उपस्थिति से यह स्पष्ट होता है कि यह नगर गुप्त साम्राज्य के अधीन था और यहाँ की मुद्रा प्रणाली अत्यंत विकसित थी। सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के स्वर्ण सिक्के विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं जिन पर 'विक्रमादित्य' नाम, सिंह पर आरूढ़ देवी लक्ष्मी और धनुर्धारी राजा की मूर्ति अंकित है। गुप्त सिक्कों में कला, सौंदर्यबोध और धार्मिक प्रतीकों का ऐसा सम्मिलन मिलता है जो भारतीय मुद्रा इतिहास में अद्वितीय है। गुप्त काल के बाद यहाँ परमारों का शासन रहा, विशेष रूप से राजा भोज की उपस्थिति इस नगर को सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत समृद्ध बनाती है। इस काल के सिक्के मुख्यतः ताँबे के होते हैं जिनमें संस्कृत के अक्षरों में राजा का नाम, धार्मिक प्रतीक और कभी–कभी कलात्मक आकृतियाँ अंकित होती थीं। ये सिक्के धार्मिक आस्था के साथ–साथ क्षेत्रीय स्वतंत्रता और स्वराज्य भावना का प्रतीक बनते हैं।

उज्जयिनी के सिक्कों में एक अद्वितीय धारा 'उज्जयिनी प्रकार' के सिक्कों के रूप में देखने को मिलती है, जिनमें 'उज्जयिनी चिन्ह' (उज्जैन चिन्ह) की उपस्थिति मिलती है। यह चिन्ह प्रायः चार बिंदुओं के समूह के रूप में होता है जो एक चतुर्भुजाकार आकृति में व्यवस्थित होते हैं और जिनके केंद्र में एक क्रॉस या स्वस्तिक होता है। यह चिह्न उज्जैन की विशिष्ट पहचान बन चुका है और प्राचीन सिक्कों पर इसका बार–बार प्रयोग इसके धार्मिक, ज्योतिषीय और नगरीय महत्व को दर्शाता है। कुछ विद्वान मानते हैं कि यह प्रतीक उज्जैन के 'अवंतिपुर' के रूप में खगोलशास्त्रीय महत्व की ओर संकेत करता है, जहाँ से भारतीय कालगणना की शुरुआत मानी जाती है। मुद्राशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो उज्जयिनी के प्राचीन सिक्के आकार, धातु, अंकन शैली और प्रतीकों की विविधता के कारण अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यहाँ प्राप्त सिक्कों में चंद्राकार, चतुर्भुजाकार, वृत्ताकार, और यहाँ तक कि अर्धवृत्ताकार आकार भी मिलते हैं। धातुओं में चाँदी, ताँबा, सीसा, मिश्रधातु तथा कभी–कभी स्वर्ण का प्रयोग हुआ है। सिक्कों की बनावट से यह स्पष्ट होता है कि उस काल में ढलाई की तकनीक अत्यंत उन्नत थी। सिक्कों पर अंकित लिपियाँ मुख्यतः ब्राह्मी तथा नागरी लिपि की पूर्ववर्ती रूपों में हैं, जो समय के साथ विकसित होती गईं।

पुरातात्विक उत्खननों में उज्जैन से प्राप्त हजारों सिक्कों ने न केवल ऐतिहासिक घटनाओं की पुष्टि की है, बल्कि वाणिज्यिक गतिविधियों, धार्मिक प्रवृत्तियों और सामाजिक संरचना के बारे में भी बहुमूल्य संकेत दिए हैं। इन सिक्कों के माध्यम से यह अनुमान लगाया गया है कि उज्जैन प्राचीन भारत के प्रमुख व्यापार मार्गों पर स्थित एक नगर था जहाँ से उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम जाने वाले व्यापारियों का आना–जाना लगा रहता था। इसलिए यहाँ की मुद्रा प्रणाली विविध प्रभावों से युक्त रही, और यह विविधता ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। बौद्ध और जैन साहित्य में उज्जयिनी के उल्लेख मिलते हैं और वहाँ की समृद्धि, व्यापारिक गतिविधियों और धार्मिक जीवन का विवरण भी मिलता है। जैन ग्रंथों में उज्जयिनी को 'वासवत्ति' नगर कहा गया है, जो समृद्ध और व्यावसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। इसी प्रकार बौद्ध ग्रंथों में उज्जयिनी के व्यापारी वर्ग और उनकी आचार–संहिता का वर्णन किया गया है। सिक्कों पर प्राप्त ब्राह्मी लेख और देवताओं की आकृतियाँ तत्कालीन धार्मिक जीवन की झलक देती हैं। भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. ए.एस. अल्तेकर और पी.एल. गुप्त जैसे विद्वानों ने उज्जयिनी के सिक्कों पर विशेष रूप से कार्य किया है। उनके अनुसार उज्जयिनी की मुद्रा प्रणाली प्राचीन भारत की मुद्रा व्यवस्था की धुरी रही है। यह न केवल शासकीय अधिकार और व्यापार की पहचान थी, बल्कि यह स्थानीय जनता की धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का भी प्रतिबिंब थी। उज्जयिनी के सिक्कों पर अंकित चित्रण उस समय के लोक विश्वासों, देवी–देवताओं की आराधना तथा प्रकृति से जुड़ी आस्थाओं को भी दर्शाते हैं। एक ही सिक्के पर कभी–कभी दो लिपियों और दो भाषाओं का प्रयोग यह दर्शाता है कि यह नगर संस्कृतियों का संगम स्थल था। उज्जैन आज भी भारत के प्राचीनतम नगरों में से एक है, परंतु उसकी वास्तविक पहचान न केवल उसके मंदिरों, ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर, कालचक्र और सिंहस्थ कुंभ से होती है, बल्कि उसके सिक्कों से भी होती है जिनमें उस युग का सजीव चित्रण सुरक्षित है।

संदर्भ–

1. Altekar, A.S. Catalogue of Coins from Ujjain, Indian Numismatic Society

2. Gupta, P.L. Coins of Ancient India, Bombay: Bharatiya Vidya Bhavan

3. Rajbali Pandey, Indian Coins, Banaras Hindu University

4. Sircar, D.C. Studies in Indian Coins, Motilal Banarsidass

मालवा में शैव शाक्त और बौद्ध साहित्य

डॉ. अविनाश यादव

प्राचीन मालवा भारतीय उपमहाद्वीप का एक अत्यंत समृद्ध सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भूखंड रहा है। यह भूभाग मध्यभारत के वर्तमान मध्य प्रदेश मं। विस्तारित है, जिसमें उज्जयिनी, विदिशा, मंदसौर, धार, भीलसा और उनके आसपास के क्षेत्र सम्मिलित हैं। गुप्त काल के पूर्व और पश्चात, मालवा एक ऐसा क्षेत्र बना जिसमें विविध धार्मिक परंपराएँ एक साथ विकसित हुईं और उन्होंने साहित्यिक, सांस्कृतिक, और दार्शनिक चेतना को अद्वितीय रूप से समृद्ध किया। विशेषतः शैव, शाक्त और बौद्ध परंपराओं ने मालवा के धार्मिक और साहित्यिक परिदृश्य को गहराई दी और एक ऐसा साहित्यिक वैभव निर्मित किया जो आज भी इतिहास के पृष्ठों में अपनी झलक देता है। शैव परंपरा प्राचीन मालवा में अत्यंत प्रबल थी। शैव साधना, मंदिर स्थापत्य, तंत्रागम ग्रंथों की रचना और लोककथाओं में शिव का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

उज्जयिनी को शिव की नगरी कहा गया है, जहाँ महाकालेश्वर मंदिर शिव के बारह ज्योतिर्लिंगों में प्रमुख माना जाता है। इस मंदिर और इससे जुड़े शैव ग्रंथों की रचना से यह स्पष्ट होता है कि मालवा में शिव के अनेक रूपों की पूजा होती थी, जिनमें महाकाल, कालभैरव, नागेश्वर, भीमाशंकर, अर्धनारीश्वर आदि प्रमुख हैं। शैव ग्रंथों में 'महाकालसंहिता', 'शिवतत्व', 'शिवमहिम्नः स्तोत्र', 'लिंगपुराण', 'स्कन्दपुराण' के उज्जयिनी खंड जैसे साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें मालवा की शैव परंपरा का उल्लेख मिलता है। शिव की तांत्रिक उपासना, विशेषतः दक्षिणामूर्ति के रूप में, यहाँ के साधकों के बीच लोकप्रिय रही, जो ध्यान, समाधि, योग और जप की शुद्ध परंपरा में विकसित हुई। मालवा की शाक्त परंपरा भी अत्यंत प्राचीन है। यहाँ की मातृका पूजा, देवी महिषासुरमर्दिनी, चामुंडा, काली, तारा और त्रिपुरसुंदरी के रूपों की उपासना के अनेक साहित्यिक और मूर्तिकला प्रमाण मिलते हैं। उज्जयिनी में हिंगलाज देवी, हरसिद्धि देवी और गरडू के पास की चामुंडा शक्तिपीठ शाक्त परंपरा के केंद्र रहे हैं। तंत्रसंग्रह, श्रीविद्या, कौल मार्ग और यामल ग्रंथों की रचना या पुनर्पाठ मालवा में हुआ था। शाक्त साहित्य में 'देवीमहात्म्य' (मार्कण्डेय पुराण का दुर्गासप्तशती खंड) का अत्यधिक पाठ हुआ करता था, जिसकी मंत्रात्मक व्याख्या 'नवार्ण मन्त्र', 'चण्डीपाठ' और 'कवच स्तोत्रों' में हुई है। 'शारदातिलक तंत्र', 'कुलार्णव तंत्र', 'रुद्रयामल' तथा 'महानिर्वाण तंत्र' जैसे ग्रंथों के अध्यायों में मालवा की मातृकाओं और उनके पीठों का उल्लेख मिलता है। देवी के रूपों की आराधना केवल दैहिक सुरक्षा या तांत्रिक सिद्धि के लिए नहीं, अपितु आत्मोद्धार, ज्ञान और मुक्ति के साधन के रूप में मानी जाती थी। देवी को ब्रह्मविद्या की मूर्त रूप में देखा गया, जिससे शाक्त परंपरा के साहित्य ने उपनिषदों की गूढ़ता और लोक आस्था के भावनात्मक तत्वों का समन्वय किया। मालवा का बौद्ध साहित्य एक विशेष स्थान रखता है। सम्राट अशोक के समय से ही विदिशा (भीलसा) बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केंद्र था। यहाँ के स्तूप, विहार, अभिलेख और साहित्यिक अवशेष बौद्ध परंपरा के उत्कर्ष को दर्शाते हैं। बौद्ध साहित्य में पालि, संस्कृ त और प्राकृत तीनों भाषाओं का समृद्ध प्रयोग हुआ। विदिशा के समीप स्थित साँची के स्तूपों की भित्तियों पर जातक कथाओं के चित्रण और उल्लेखित ग्रंथों से यह स्पष्ट होता है कि मालवा में बौद्ध धर्म की थेरवाद, महायान और वज्रयान तीनों शाखाओं का प्रभाव रहा। जातक साहित्य में विदिशा और उज्जयिनी से जुड़ी कथाओं का वर्णन है, जिनमें लोकनायकों के आदर्शों, नैतिकता, त्याग और करुणा का चित्रण मिलता है। महायान परंपरा में बोधिसत्त्वों के स्तुतिगान, विशेषतः अवलोकितेश्वर, मंजुश्री और तारा की उपासना पर आधारित काव्य रचनाओं की एक परंपरा विकसित हुई। इस परंपरा में 'साधनमाला', 'प्रज्ञापारमिता सूत्र', 'सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र' जैसे ग्रंथों का पाठ और अनुवाद हुआ। वज्रयान बौद्ध परंपरा ने शाक्त तंत्रों से संपर्क बनाते हुए विशेष साधनात्मक ग्रंथों की रचना की। 'हीवज्र तंत्र', 'चक्रसंवारा तंत्र', 'तारा तंत्र' जैसे ग्रंथों में साधना विधियों, मन्त्रजाप, ध्यानचक्र और मंडल विधि का वर्णन मिलता है, जिसका प्रभाव मालवा के बौद्ध संतों पर पड़ा। इन संतों में सिद्धाचार्य परंपरा के नागार्जुन, वसुबन्धु, असंग, शान्तिदेव जैसे आचार्य भी इस क्षेत्र से जुड़े माने जाते हैं। उन्होंने धर्म और तत्त्वबोध के शुद्ध साहित्य की रचना की, जो तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और बौद्ध दर्शन के मूल स्तंभ बने। शैव, शाक्त और बौद्ध परंपराओं का यह सहअस्तित्व केवल धार्मिक सहिष्णुता का उदाहरण नहीं था, अपितु साहित्यिक संवाद और समन्वय का भी सजीव उदाहरण था। शैव तंत्रों में बौद्ध साधनाओं के प्रतीक, शाक्त मंत्रों में बौद्ध भिक्षुणियों की उपमाएँ और बौद्ध वज्रयान में शिव तत्व की छाया यह प्रमाणित करती हैं कि मालवा का साहित्य सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ एक सार्वभौमिक आध्यात्मिक चेतना की ओर अग्रसर था। एक ही संत किसी ग्रंथ में शिव की स्तुति करता है, तो दूसरे अध्याय में तारा की उपासना या बुद्ध की करुणा का गायन करता है। यह समन्वय भारतीय ज्ञान परंपरा की आत्मा है। उज्जयिनी के अनेक विद्वानों ने शैव और शाक्त ग्रंथों की टीका की, तो वहीं बौद्ध साहित्यकारों ने मालवा की लोकभाषा में जातक कथाओं, धम्मपद और बोधिसत्वचर्या को सरल पदों में प्रस्तुत किया। अनेक शिलालेखों में संस्कृत और प्राकृत दोनों में रचनाएँ उत्कीर्ण हैं, जो उस समय के द्विभाषिक साहित्यिक परिवेश को दर्शाते हैं। यह द्वैधता केवल भाषिक नहीं, बल्कि दार्शनिक भी थी, जहाँ शिव और बुद्ध दोनों को आत्मा की मुक्ति के साधक के रूप में समान भाव से स्वीकारा गया।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भारतीय नवजागरण और सार्वभौम सम्राट विक्रमादित्य

उज्जैन के सम्राट विक्रमादित्य भारतीय इतिहास, संस्कृति और लोकचेतना में एक अद्वितीय प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे केवल एक विजयी सम्राट नहीं थे, बल्कि न्याय, धर्म और संस्कृति के संवाहक भी थे। उनकी ख्याति केवल उनके युद्धों और विजय अभियानों में नहीं, बल्कि उनके सुशासन, प्रजावत्सलता और विद्वानों के प्रति संरक्षण में भी निहित है। उज्जैन को उन्होंने न केवल अपनी राजधानी बनाया, बल्कि उसे विद्या, कला, ज्योतिष और दर्शन का केंद्र भी बना दिया। विक्रमादित्य का काल वह स्वर्णयुग था जब भारत की सांस्कृतिक चेतना ने पुनः अंगड़ाई ली और एक सार्वभौम दृष्टिकोण से स्वयं को जागृत किया। वे कालिदास, वराहमिहिर और अमरसिंह जैसे नवरत्नों के संरक्षक थे और भारतीय विद्या परंपरा के महान पोषक भी। विक्रमादित्य का नाम आज भी भारत की आत्मा में एक गौरवगान के रूप में ध्वनित होता है। वे केवल इतिहास के पृष्ठों में नहीं, जनमानस के लोकस्मृति में भी जीवित हैं। उनकी स्मृति में प्रवाहित विक्रम सम्वत् आज भी हमारे सांस्कृतिक पंचांग का एक गौरवशाली अंग है।

हमारे समय के वरिष्ठ व महत्वपूर्ण लेखक पद्मश्री डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित द्वारा लिखित 'सार्वभौम सम्राट विक्रमादित्य' एक अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक है, जो न केवल भारत के गौरवशाली अतीत का दस्तावेज है, बल्कि सम्राट विक्रमादित्य की विभूतिमयी छवि को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, पौराणिक और दार्शनिक धरातलों पर प्रतिष्ठित करता है। महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक का संपादन श्रीराम तिवारी के द्वारा किया गया है। विक्रमादित्य भारतवर्ष की उस कालजयी चेतना का नाम है, जिसकी स्मृति मात्र से सांस्कृतिक गौरव, नीति, न्याय, धर्म और प्रजावत्सलता की संकल्पनाएँ सजीव हो उठती हैं। इस पुस्तक में लेखक ने विक्रमादित्य को केवल एक ऐतिहासिक राजा के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि उन्हें एक युगपुरुष, एक सार्वभौम सम्राट और एक सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत के रूप में प्रतिष्ठित किया है। पुस्तक की भाषा ओजस्वी और प्रवाहपूर्ण है, जो पाठक को आरंभ से अंत तक एक ऐसी यात्रा पर ले जाती है जहाँ इतिहास, पुराण, आख्यान, स्मृतियाँ और लोकविश्वास, सब मिलकर सम्राट विक्रमादित्य की एक विराट और प्रेरणामयी प्रतिमा गढ़ते हैं।

पुस्तक में लेखक ने विक्रमादित्य के समय की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को सूक्ष्मता से उद्घाटित किया है। विक्रमादित्य का युग वह कालखंड था जब भारत

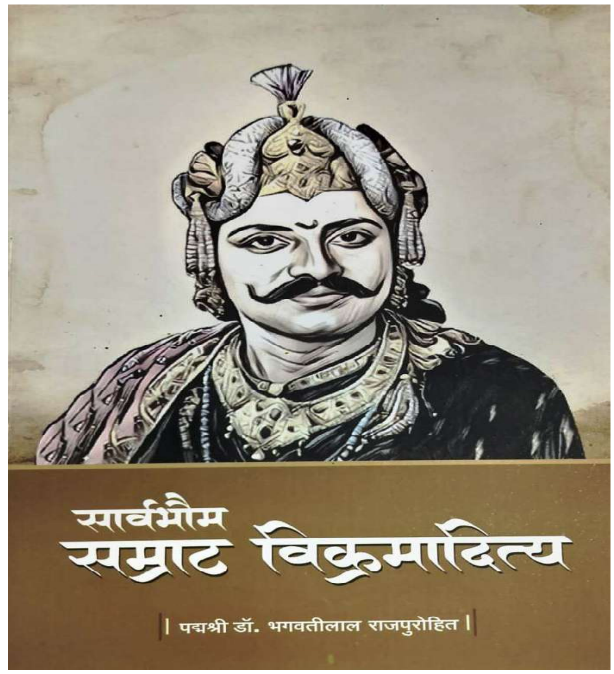

विदेशी आक्रांताओं के समक्ष खड़ा था और आंतरिक विघटन के संकटों से जूझ रहा था। ऐसे समय में विक्रमादित्य ने न केवल शकों को पराजित किया, बल्कि भारत की सांस्कृतिक अस्मिता को भी पुनर्स्थापित किया। उनके द्वारा विक्रम सम्वत् की स्थापना केवल एक कालगणना प्रणाली नहीं थी, बल्कि यह भारतीय संस्कृति की पुनरुत्थानकारी घोषणा थी, जो यह उद्घोषित करती थी कि भारत अब जाग चुका है, संगठित हो चुका है और अपने गौरव के लिए संघर्षरत है। विक्रम सम्वत् आज भी भारतवर्ष के विभिन्न भागों में मान्य और प्रयोग में है। यह संवत् न केवल ऐतिहासिक है, बल्कि सांस्कृतिक निरंतरता का प्रमाण भी है। लेखक ने विक्रम सम्वत् की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, स्थापना की प्रक्रिया और उसकी सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभावशीलता को विस्तार से प्रस्तुत किया है। यह तथ्य अत्यंत प्रेरणादायक है कि एक सम्राट द्वारा प्रवर्तित संवत् सैंकड़ों वर्षों के पश्चात् भी भारतीय जनमानस में जीवित है और यह उसके स्थायित्व और सांस्कृतिक प्रासंगिकता को दर्शाता है। विक्रमादित्य का शासन आदर्श राज्य संचालन की प्रतिमूर्ति था। लेखक के अनुसार, विक्रमादित्य के राज्य में न कोई दुखी था, न दरिद्र और न कोई शोषित। वे न्यायप्रिय, धर्मनिष्ठ और प्रजावत्सल शासक थे। उनका शासन धर्म, नीति और लोककल्याण पर आधारित था। उन्होंने जनता की भौतिक आवश्यकताओं के साथ–साथ मानसिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा।

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन 456010 से प्रसारित। संपादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए। फोन : 0734–2521499, 0755–2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com